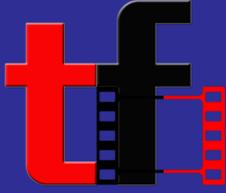


## फैज़ के काव्य की प्रगतिशील चेतना



फैज़ को प्रगतिशील शायर माना जाता है, लेकिन फैज़ न तो केवल प्रगतिशील साहित्य से प्रेरित होकर लिखते हैं और न ही विचारधारा से प्रभावित होकर लिखते हैं। वे अपने समय और समाज की उन तमाम विसंगतियों को भी महसूस करते हैं, जिनमें साम्राज्यवादी शासनव्यवस्था व पूंजीवाद ने साधारण जनता पर अत्याचार किए तथा उनका शोषण किया। फैज़ इन अमानवीय विचारधाराओं के विरोध में लिखते हैं। इस तरह वे प्रगतिशीलता को नए ढंग से परिभाषित करते हैं।

वलीखां से शुरू उर्दू गज़ल परंपरा प्रारंभ से ही अपने साथ रोमानियत को लेकर चलती है। लेकिन इकबाल व उनके समय के अन्य उर्दू शायर इसे जनता के प्रश्नों तक लेकर जाते हैं, अपनी युवावस्था में फैज़ ने भी लेखन की शुरुआत प्रेम व रोमानियत भरे मासूम नज्मों से की लेकिन समय की हकीकत व वैश्विक परिस्थितियों ने जल्द ही उनके लेखन की दशा बदल दी। तभी तो उन्हें कहना पड़ा –

और भी गम है जमाने में मुहब्बत के सिवा।

राहते और भी है, वस्ल की राहत के सिवा।

यह नज़्म जिस समय लिखी गई उस समय समाजवाद व कम्युनिस्ट आंदोलन जोर पर था।

उस समय हर एक संवेदनशील युवा की तरह फैज़ भी इस विचारधारा से बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने इन आंदोलनों में बढ़-चढ़कर भाग लिया तथा पूंजीवाद व साम्राज्यवाद शासन व्यवस्था को चुनौती दी, इसलिए फैज़ को निरंतर सत्ता का प्रहार झेलना पड़ा। फैज़ ने अपनी जेहनी एवं वैचारिक विकासक्रम की दास्तां मास्को में छपी अपनी किताब मह-व-सालओ आशनाई में काफी विस्तार से बयान की है। प्रगतिशील लेखक संघ का स्थापना सम्मेलन अप्रैल १९३६ में लखनऊ में हुआ पर फैज़ इससे पहले ही इस राह पर चल पड़े थे। इसमें कोई शक नहीं कि इस राह पर डालने में डॉ महुदुज्जर और डॉ रशीद जहाँ स्वयं लिखते हैं –

‘1934 में हम लोग कालिज से फारिंग हुए और 1935 में मैंने एएमओ कालिज, अमृतसर में मुलाजमत कर ली। यहाँ से मेरी और बहुत से समकालीन लिखने वालों की जेहनी और जज्बाती जिंदगी का नया दौर शुरू हुआ। इस दौरान कालिज में अपने साथी महुदुज्जरमरहूम और उनकी बेगम रशीद जहाँ से मुलाकात हुई फिर तरक्की पसंद तहरीक की दागबेल पड़ी, मजदूर तहरीकों का सिलसिला शुरू और यूँ लगा कि जैसे गुलशन में एक नहीं कई दबिस्तान खुल गए इस दबिस्तान में सबसे पहला सबक जोहमने सीखा था कि अपनी जात को बाकि दुनिया से अलग करके सोचना अव्वल तो मुमकिन ही नहीं इसलिए कि इसमें बहरहाल आसपास के सभी तजर्बात शामिल है..... और अगर ऐसा मुमकिन हो भी तो इन्तिहाई गैर फिजुलकाम है। कि एक इनसानी फर्द की जात अपनी सब मोहब्बतों और नफरतों मसरतों और रंजिशों के बावजूद बहुत ही छोटी-सी बहुत

आशीष जायसवाल  
शोध-छात्र  
हिंदी विभाग, दिल्ली  
विश्वविद्यालय  
संपर्क- 7503868971

ही महदूद और हकीर शै है। इसकी वुसअत और विस्तार का पैमाना तो बाकि आलमे मौजूदा से उसके जहनी और जज्बाती रिश्ते हैं, खासतौर से इंसानी विरादरी के मुश्तरका दुःख-दर्द के रिश्ते। इस नए अहसास की इब्तिदा 'नक्शे फरियादी' के दूसरे हिस्से की पहली नज़्म से होती है। इस नज़्म का उनवान है।”

‘मुझसे पहली-सी मुहबत मेरी महबूब न मांग’

और अगर आप खातून है तो मेरे महबूब न मांगा।

फैज़ अहमद फैज़ अपनी प्रगतिशीलता के कारण ही शासन व्यवस्था के लिए चुनौती बने रहे और इसीलिए सत्ता के द्वारा निरंतर उन्हें प्रहार झेलना पड़ा। 1951 ई० में लियाकत अली खान की हुकुमत ने फैज़ पर देशद्रोह का मुकदमा चलाया। इसे ‘लाहौर षड्यंत्र’ का नाम दिया गया। यहीं से उनके लेखन की दिशा बदल गई, फैज़ को न केवल प्रेम जैसे शब्दों से बल्कि समता, समानता व न्याय जैसे शब्दों से भी मोहभंग पैदा हो गया।

अपने देश की सत्ता द्वारा पराया सिद्ध कर दिए जाने का दर्द उनके लेखन में दिखाई पड़ता है। मानवता की बातों पर आवाम की बेरुखी उन्हें कचोटती हुई नजर आती है। उनका यह दर्द उनकी इन पंक्तियों में नजर आता है –

निसार मैं तेरी गलियों में, ऐ वतन

कि जहाँ चली है रस्म कि कोई सिर उठा के न चले।

आशावाद उनकी कविता का केंद्रीय स्वर है, कविताओं के ताने बनें में उसकी पृष्ठभूमि में वह मौजूद रहता है। जीवन के सभी कष्टों को इसके सहारे ही हल्का करते हैं। जेल जीवन की सघन पीड़ा को भी उन्होंने यह समझ कर सह लिया, यह आशावाद उनको जीवन शक्ति प्रदान करता है। उनका आशावाद हवाई-लफ्फाजी पर नहीं, बल्कि ठोस जमीन पर है। जनसंघर्षों की जमीन से जुड़ा यह आशावाद एक शासनसत्ताओं की दहशत को, उनको खौफ को चाक-चाक कर देता है।

13 फरवरी 2011 में ‘जश्रे फैज़ सदी’ नाम से भोपाल में एक गोष्ठी हुई जिसमें डॉ प्रणय कृष्ण ने फैज़ के बारे में और उनके गजलों के बारे में विचार रखते हुए कहा – ‘वे रूमानी शायर नहीं थे, इस बात को समझने के लिए 18 वीं सदी की उर्दू गज़ल के काव्यशास्त्र में जाना होगा। इस शायरी में आशिकी जरूरी तौर पर शायद खुद नहीं होता था।.....आशिक और माशूक के संबंधों की मार्फत दर्द-वियोग-मिलन कुछ मूल्यवान खो जाने का अहसास, असहायता, समर्पण, शौक और इश्क की जिन भावनाओं को व्यक्त किया जाता है, वे किन्हीं सामाजिक सच्चाइयों के दबाव में पैदा होती हैं। फैज़ ने शायरी के इस ढांचे को उसकी रवायत की पूरी ताकत को अपने देश-समय और समाज के गंभीर सवालों को संबोधित करने के लिए इस्तेमाल किया है बात महज इतनी ही नहीं की उनके लिए माशूक कभी देश है या कभी क्रांति। महत्वपूर्ण ये है की वे उदासी, बेबसी, तकलीफ, असफलता, इन्तजार, उम्मीद, और निराशा की बेहद गहरी जिन भावनाओं को व्यक्त करते हैं, वे सब इतिहास और समाज ने एक पूरे उपमहाद्वीप में पैदा कर दी थी। तो ऐसे में कोई प्रगतिशील कहे तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।’

फैज़ की भारतीय उपमहाद्वीप में जो हैसियत है नेरुदा और नाजिम हिकमत जैसे दुनिया के इन्कलाबी कवियों जैसी है, आखिर उनकी गजलों और नज़्मों में मौजूद गम और उदासी में ऐसा क्या है जो दुनिया के शोषित-उत्पीडित-वंचित जन की अंतरात्मा के तार जुड़ते हैं। फैज़ उस गहन उदासी और पीड़ा के भीतर से मानों इन्कलाब की जरूरत पैदा करते हैं और गहन अँधेरे में भी सुबह का यकीन तलाश लाते हैं

ये गम जो इस रात ने दिया है ,

ये गम सहर का यकीन बना है

यकीं जो गम से करीमतर है ,  
सहर जो शब से अजीमतर है ,

फैज़ लोगों के दिलों में उसकी दबी हुई इन्कलाब की चाहत को उभारनेवाले शायर है, इन्कलाब के प्रदर्शनवाले शायर नहीं, यही कारण है कि धर्मप्राण जनता से भी वे बिदकते नहीं, बल्कि कई बार धार्मिक शब्दावलियों का बिलकुल बदले हुए संदर्भों में इस्तेमाल करते हुए शोषण-उत्पीडन और भेदभाव के प्रति जनता के दुःख और मुक्ति की चाह को उन्होंने अपनी जबा दी है –यही तो है जंजीरों में भी जबान रख देना। फैज़ कहते हैं –

बोल कि लब आजाद हैं तेरे  
....बोल जबां अब तक तेरी है  
तेरा सुतवां जिस्म है तेरा  
बोल कि जां अब तक तेरी है..

फैज़ ने बहुत ही निजी कविताएँ भी लिखीं हैं, अपने बहुत ही करीबी संबंधियों पर, अपनी बेटी मुनीजा की सालगिराह पर, अपने भाई कि मृत्यु पर या इसी तरह के निजी जीवन की घटनाओं पर भी। लेकिन वे अपने अनुभवों को दुनिया के अनुभवों के साथ इस तरह से जोड़ते हैं कि वह निजी अनुभव सामूहिक बन जाता है। निजता और सामूहिकता के एक साथ फैज़ की कविताओं में दर्शन होते हैं, अनुभव की कसक कविता की विश्वसनीयता बनाती है तो दृष्टि उसे विश्व से जोड़ देती है।

‘मुझको शिकवा है मेरे भाई कि तुम जाते हुए  
ले गये साथ मेरी उम्रे-गुजिस्ताकी किताब

उसमें तो मेरी बहुत कीमती तस्वीरें थीं  
उसमें तो बचपन था मेरा और आधे शबाब  
उसके बदले मुझे दे गए जाते-जाते  
अपने गम का यह दमकता हुआ खू-रंग गुलाब ...’

फैज़ का सामाजिक सरोकार केवल मौखिक या कागजी नहीं है, बल्कि वे इस हेतु बड़े से बड़े खतरे उठाने को तैयार रहते हैं –

‘मता-ऐ-लौह-ओकलमछिन गई तो क्या गम  
केखून-ऐ-दिल में डुबो ली हैं उँगलियाँ मैंने  
जबां पे मुहर लगी है तो क्या के रख दी है  
हर हल्का-ऐ जंजीर में जबां मैंने’

फैज़ की लेखनी में एक खास टशन था, खालिस रूमानी बातों के बिच बगावत की महक और इन्कलाब की आंच अपनी बात को कहने का ये खास अंदाज ही फैज़ को उनके जमाने के अन्य शायरों से जुदा करता है और यही कारण है कि उर्दू शेर-ओ-सुखन के इतिहास में फैज़ को एक मुखिल्लख और बेहद ऊँचा मकाम हासिल है, जिसे पिछले तकरीबन पचास सालों में भी कोई नहीं छू पाया है। उर्दू के एक महान आलोचक मुमताज हुसैन के कथनानुसार –

‘उसकी शायरी में अगर एक परंपरा किसकैस की है तो दूसरी मंसूर की, फैज़ ने इन दोनों परंपराओं को अपनी शायरी में कुछ इस तरह समा लिया है की उसकी शायरी स्वयं एक परंपरा बन गई है।’

फैज़ मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित थे, मार्क्स मानता है कि समकालीन दुनिया की सभी समस्याओं का केंद्र पूंजीवाद है। उत्पादन पर निजी स्वामित्व पूंजीवाद की रीढ़ है। इसलिए जब तक इस रीढ़ को तोड़ा नहीं जाएगा तब तक सामानता व न्याय

सबकों नहीं मिल सकता, क्योंकि पूंजीवाद का साम्राज्य श्रमिकों के खून-पसीने से निर्मित हुआ है इसलिए इन्हें भी अपना हिस्सा मिलना चाहिए।

फैज़ की इन पंक्तियों को पढ़कर पता चलता है कि वे किस तरह पूंजीवाद का विरोध कर रहे थे –

‘हम मेहनतकश इस दुनिया से जब अपना हिस्सा मांगेंगे’  
इक खेत नहीं, इक बाग़ नहीं हम सारी दुनिया मांगेंगे’

इस असमानता को खत्म करने हेतु ही वे अत्याचारी शासन व्यवस्था को चुनौती भी देते हैं –

‘लाजिम है हम देखेंगे’...।

फैज़ की यह नज़्म साम्राज्यवादी शासन व्यवस्था को चुनौती देती है, शोषण मुक्त, अत्याचार मुक्त समाज का स्वप्न जागृत करती है, तथा जनता में चेतना का संचार करती है यही सब तो फैज़ के प्रगतिशील मूल्य हैं।

फैज़ की कविता का फलक केवल भारत-पाकिस्तान तक ही सिमित नहीं है, वे वैश्विक स्तर के कवि हैं। विश्व जगत में हो रही अमानवीयता व अत्याचारों का भी वे विरोध करते हैं। जिस तरह साम्राज्यवादी शासन-व्यवस्था ने अपने उपनिवेशों की कला, संस्कृति, भाषा, रीति-रिवाजों का दमन किया, उसके विरोध में फैज़ ने ‘अफ्रीका कम बैक’ जैसी नज़्में लिखीं।

मनुष्यता व समानता के पक्षधर फैज़ को आवाम के दिलों बेदखल करने के लिए सत्ता ने तरह-तरह के हथकंडे अपनाए। बांग्लादेश के विभाजन के समय अपने आवाम के अत्याचार का विरोध करने पर उन्हें गद्दार घोषित कर दिया गया। इसके बावजूद फैज़ ने निरंतर अपनी लेखनी से अत्याचारी शासन व्यवस्थाओं का विरोध किया। उनकी नज़्में निरंकुश शासन व्यवस्थाओं के विरुद्ध जनता की निर्भीक व बेबाक अभिव्यक्ति है।

अतः हम कह सकते हैं फैज़ प्रगतिशील साहित्य के चमकते सितारों हैं उमके काव्य में हमें प्रगतिशील चेतना बहुत प्रखरता से दिखाई पड़ती है, इसलिए यदि हम उन्हें एक प्रगतिशील साहित्यकार की संज्ञा दें तो ये अतिशयोक्ति न होगी।

फैज़ की शायरी के बहुआयामी फलक और प्रगतिशील चेतना के विषय में उर्दू शायर असर लखनवी साहब ने सच ही कहा है कि-

‘फैज़ की शायरी तरक्की के मदारिज तय करके अब इस नुक्ता –ए-उरूज पर पहुँच गई है, जिस तक शायद ही किसी दूसरे तरक्कीपसंद शायर की रसी हुई हो, तखय्युल ने सनाअत के जौहर दिखाए हैं और मासूम जज्बात को हसीं पैकर बक्सा है, ऐसा मालूम होता है की परियों का एक गौल एक तिलिस्मी फजा में इस तरह से मस्त-ए-परवाज है की एक पर की छूत पड़ रही है और कौस-ए-कुजह के अक्कास बादलों से सबरंगी बारिश हो रही है ...’

### संदर्भ ग्रंथ-सूची

- प्रतिनिधि कविताएँ, फैज़ अहमद फैज़, भूमिका
- मह-व-साल ओ आशनाई, फैज़ अहमद फैज़, भूमिका
- Yuvasamvad.mP.wordpress.com
- रौशनाई- सैयद सज्जादजहीर
- लोटस
- सुखनदरसुखन –सैयद सिब्ते हसन

